मुस्लिम महिलाओं की पहचान

ज़ोया हसन व ऋतु मेनन

पिछले कई दशकों से मुस्लिम महिलाओं पर अध्ययन से जुड़े सभी प्रभावशाली आयाम व उनके हक़ों के लिए चलाए सभी अभियान *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के प्रभावों जैसे तलाक, बहुविवाह तथा उनमें सुधार लाने की ज़रूरत पर केंद्रित रहे हैं। इस संदर्भ में मुस्लिम महिलाओं के हक़ बहस का गंभीर विषय रहे हैं विशेषकर जहां इस्लामी कानूनों की व्याख्या का प्रश्न उठता है। इस बहस ने व्यक्तिगत, कानून, पहचान व जेंडर के सवाल के बीच विरोधाभास को विशेष रूप से उजागर कर दिया है। यह विरोधाभास 1986 के मुस्लिम महिला कानून जिसमें तलाकशुदा महिला को गुज़ारा भत्ता पाने के अधिकार से वंचित किया था पर हुए विवाद में भी रेखांकित किया गया था। कुछ मुस्लिम नेताओं ने इस विवाद को मुस्लिम महिलाओं की इस्लामी पहचान से जोड़कर यह दलील पेश की थी कि अदालत का निर्णय *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के विरुद्ध जाता है और इसलिए यह मुस्लिम समुदाय की पहचान को भी नज़रअंदाज़ करता है। महिला समूहों ने इस दावे की मुखालफ़त करते हुए महिलाओं की पहचान को संकीर्ण धार्मिक दायरे में परिभाषित करने पर ऐतराज़ उठाया है जो मुस्लिम महिलाओं को अन्य महिलाओं से अलग ईकाई के रूप में रखता है तथा सामुदायिक हितों को अधिक महत्व देता है।

मुस्लिम महिला कानून बने हुए लगभग एक दशक बीत गया है और अब इस मुद्दे पर धर्मनिरपेक्ष सहमति की जगह राष्ट्रीयता के नए धार्मिक व जातीय स्वरूप उभर रहे हैं। इन स्वरूपों में महिलाओं को दकियानूसी और पारम्परिक दायरों में कैद करने के प्रयास हैं। इसी के साथ 1990 से बढ़ती साम्प्रदायिक राजनीति ने हम सबको भारतीय मुसलमानों के अल्पसंख्यक दर्जे पर चिंता करने को बाध्य करने के साथ-साथ साम्प्रदायिक सरहदों को और मज़बूती प्रदान की है। महिलाओं के लिए भी इस साम्प्रदायिक राजनीति की पहुंच *शाहबानो विवाद* में दिखाई दी है और बाबरी मस्जिद के विध्वंस होने के साथ ही हिंदुत्व और भारतीय जनता पार्टी के लिए राजनैतिक सहयोग में भी बेहद तेज़ी देखी गई है। इन दोनों घटनाओं ने धार्मिक आधार पर विभाजन को पुख्ता करके मुस्लिम महिलाओं को उनके समुदाय और *पर्सनल लॉ* की गिरफ्त में कैद कर दिया है।

अब यह स्वीकारा जा रहा है कि किसी भी मुद्दे पर मुस्लिम समुदाय की प्रतिक्रिया होने पर अल्पसंख्यक समाज के मुद्दों को साम्प्रदायिक मुद्दों की नज़र से आंका जाता है जिसके नतीजन व्यक्तिगत कानूनों की सुरक्षा और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा एक साथ देखी जाती है। अब 'समुदाय' एक विकट रूप में उभर रहा है जो मुस्लिम महिलाओं के अनुसार उनके अधिकारों को नियंत्रित करने की हर मुमकिन कोशिश में है। महिलाओं के लिए अधिकार व न्याय की मांगों को लेकर अब एक तनाव दिखाई पड़ रहा है। मुस्लिम नेताओं की इच्छा व कोशिश है कि अधिकारों को सामूहिक, साम्प्रदायिक मौजूदगी के दायरे में देखा जाए न कि प्रजातंत्रीय नागरिकता की बुनियादी ज़रूरत के रूप में। मुस्लिम महिलाओं के नज़रिए में, साम्प्रदायिक राजनीति के माहौल में समुदाय की एकजुटता बरकरार रखने की आवश्यकता का अर्थ है जेंडर हितों की नियंत्रित और सामुदायिक पहचान विमर्श के दायरे में अभिव्यक्ति।

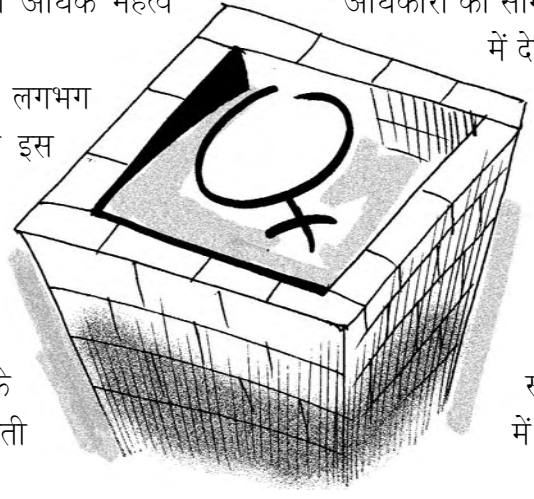

पहचान और मुस्लिम समुदाय पर उसकी पकड़ के मुद्दे को लेकर अनेक नज़रिए सामने उभरकर आये हैं। एक नज़रिया वह है जो विभाजन के बाद घटती धर्मनिरपेक्षता व मुसलमानों की बढ़ती असुरक्षा की भावना की बात करता है और जिसके अनुसार *मुस्लिम पर्सनल लॉ* अल्पसंख्यक पहचान के विशेष प्रतीक के रूप में उभरा है। इस प्रतीक की सुरक्षा ने मुस्लिम महिलाओं के हक़ों का धीरे धीरे हनन करते हुए उन्हें सामुदायिक हितों के नीचे दबा दिया है।

दूसरा नज़रिया मुस्लिम महिलाओं और राज्य के संबंध की बात करता है जिसमें मजबूरी और विरोधाभास निहित हैं। इस हाशियेदार और कमज़ोर समूह के हितों को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य का सहयोग व भागीदारी दोनों आवश्यक हैं। पर राज्य ने अपनी ज़िम्मेदारी से मुंह मोड़कर मुस्लिम, धार्मिक, पुरुष नेतृत्व को मुस्लिम महिलाओं पर नियंत्रण रखने और उन्हें एक जेंडर रहित सामुदायिक पहचान के तहत रहने को बाध्य कर दिया है।

इन दोनों व्याख्याओं ने हमें मुस्लिम महिला अधिकार, *शाहबानो केस* के निणर्य के विरोध, *मुस्लिम महिला कानून* जैसे मुद्दों को समझने में मदद की है। अकादमिक शोध तथा *शाहबानो विवाद* के पश्चात *समान नागरिक कानून* की मांग पर कई महिला समूहों के विरोध से स्पष्ट ज़ाहिर है कि ये प्रतिक्रियाएं हिन्दू राष्ट्रवाद के पुनुरूत्थान का नतीजा हैं। अब भी *शाहबानो निर्णय* को वापस लेने के फैसले ने मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों पर परोक्ष प्रभाव छोड़े हैं। इस बात को मानकर कि मुस्लिम हितों की सुरक्षा पूर्णतः मुस्लिम नेतृत्व की ज़िम्मेदारी है सरकार ने बहुविध पहचानों की राजनैतिक अभिव्यक्ति को नियंत्रित कर दिया है जिसमें जेंडर अभिव्यक्ति भी शामिल है। इसके अलावा व्यक्तिगत कानून को सामुदायिक पहचान का प्रमाणक मानकर सरकार ने मुस्लिम महिलाओं पर इस पहचान का प्रतीक बने रहने का राजनैतिक दबाव डाला है।

राजनैतिक रूप से मुखर व प्रभावशाली मुस्लिम पुरुषों द्वारा महिला मुद्दों का सहयोजन तथा मुस्लिम महिला सशक्तता का अभाव, दोनों साथ मिलकर महिला संबंधी मुद्दों को दरकिनार कर रहे हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि मुस्लिम महिलाओं के रोज़मर्रा के जीवन को परिभाषित करने वाले आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक सरोकार राज्य की नीतियों से गायब हैं।

भारतीय महिलाओं पर मौजूद साहित्य में तीन विस्तृत धारणाएं देखने को मिलती हैं। पहली, अधिकांश अध्ययनों में मुस्लिम महिलाओं को पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया गया है। इनके आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक दर्जे पर कोई पुख्ता जानकारी नहीं मिलती है।

दूसरी धारणा है मुस्लिम महिलाओं के दर्जे को उनके व्यक्तिगत कानून के संकुचित दायरे में रखकर आंकना। यह सोच अपने आप में समस्यापूर्ण है क्योंकि इन अध्ययनों को केंद्र महिलाएं नहीं बल्कि शरीयत, महिलाओं के प्रति पूर्वग्रह लिए कानून व धार्मिक सांस्कृतिक परम्पराएं हैं जो महिलाओं की जगह धर्म-गुरुओं को अधिक महत्व देती हैं। इसके अलावा, हालांकि कानूनी सुधार एक महत्वपूर्ण मुद्दा ज़रूर है परन्तु अगर व्यक्तिगत कानूनों को पूरी तरह संशोधित कर भी दिया जाए तो भी मुस्लिम महिलाओं के दर्जे में कोई अतिवादी परिवर्तन नहीं आएगा। और तो और ये सोच आंतरिक सुधार का पूरा ज़िम्मा, मुस्लिम समुदाय और मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं का दारोमदार शरीयत और इस्लाम पर डाल देती है।

तीसरी धारणा यह कि सभी महिलाओं की सभी समस्याएं एक समान होती हैं। यह सोच इस विचार का अनुसरण करती है कि विकास के फायदे सभी को समान रूप से पहुंचाते हैं। इस सोच का एक मानना यह भी है कि हालांकि महिलाओं के बीच पहचान के सवाल को लेकर फ़र्क़ होते हैं फिर भी उनके दर्जे को प्रभावित करने वाले सामाजिक-आर्थिक कारक समान होते हैं और समुदाय का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस सोच पर सवाल उठाकर न तो हम महिलाओं के साझे उत्पीड़न को दरकिनार कर रहे हैं और न ही मुस्लिम महिलाओं को एक अलग वर्ग की तरह देखने के विचार

को पैरवी कर रहे हैं। पर यह एक गंभीर सच्चाई है कि आर्थिक-सामाजिक विकास प्रतिक्रिया चाहे वह राज्य चलित ही क्यों न हो, का प्रभाव क्षेत्र और समुदाय के अनुसार भिन्न होता है। विमर्श की यह ज़रूरत है कि वह इन फ़र्क़ों को समझे और इन्हें दूर करने के लिए प्रोत्साहन नीतियां बनाई जाएं। इस प्रयास को 'अलगाववादी' या 'दूसरा' करार देने की तरह नहीं देखा जाना चाहिए।

यह कहना गलत नहीं होगा कि मुस्लिम महिलाओं के संदर्भ में व्यक्तिगत कानून व पहचान के मुद्दों पर सारा ध्यान केंद्रित किया गया है तथा सामाजिक-आर्थिक दर्जे और जेंडर के सवाल को हाशिए पर रखा गया है।

नारीवादी विशेषज्ञों व महिला कार्यकर्त्ताओं ने 1980 के दशक से महिलाओं की प्रगति के संदर्भ में नीतियों, राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों, कानून, प्रशासन सरकार दायित्व की नियमित समीक्षा की है। मुस्लिम महिलाओं के निम्न आर्थिक दर्जे को अकादमिकों ने स्वीकारा है परन्तु उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक भागीदारी पर काफी कुछ लिखा नहीं गया है। मसलन उनके रोज़गार व श्रम बाज़ार में उनकी कम मौजूदगी पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हालांकि धर्म को लेकर काफी कुछ शोध किया गया है परन्तु धर्म, श्रम बाज़ार पर अपना क्या प्रभाव डालता है इसके विश्लेषण का अभाव है। श्रम भागीदारी में मुस्लिम महिलाओं की कम मौजूदगी का कारण है हिन्दू महिलाओं की तुलना में उनका निम्न शैक्षिक स्तर पर सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी नगण्य भागीदारी के लिए धार्मिक-सांस्कृतिक कारणों का उल्लेख किया जाता रहा है। पर सोचने की बात यह है कि क्या मुस्लिम महिलाओं की कम शिक्षा का कारण सांस्कृतिक मजबूरियां हैं या अवसरों और सुविधाओं की कमी?

हमें आज उस विश्लेषण की ज़रूरत है जो जेंडर व समुदाय, वर्ग और संस्कृति, समुदाय, वर्ग और संस्कृति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र के अंतर्सबन्धों पर गौर करें। हम जानना चाहते हैं कि कैसे और क्यों विकास की मौजूदगी कुछ महिलाओं को पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से बाहर निकलने में मदद करती है। आखिर महिलाओं की पहचान व दर्जा उनकी वर्ग, धर्म, क्षेत्र व यौनिक पहचानों का जटिल ताना बाना ही तो होता है।

यह लेख आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस प्रकाशित पुस्तक "इन अ माइनॉरिटी: मुस्लिम विमेन इन इण्डिया" से साभार लिया गया है।